International Journal of Hindi Research
ISSN: 2455-2232; Impact Factor: RJIF 5.22
Received: 14-04-2019; Accepted: 18-05-2019
www.hindijournal.com
Volume 5; Issue 4; July 2019; Page No. 26-29

नासिरा शर्मा के उपन्यास और सामाजिक बोध

डॉ. मुरलिया शर्मा [1], श्रीमती प्रेमलता मीणा [2], डॉ. समय सिंह मीना [3]

[1-3] राजकीय कला महाविद्यालय कोटा राजस्थान भारत

सारांश

युग परिवर्तन के साथ सामाजिक परिवर्तन का वह साक्षी होता है। इसी बदलाव का सच हमें समकालीन साहित्य में देखने को मिलता है। नासिरा शर्मा जी का साहित्य भी समकालीन समाज तथा उसके अन्तर्मन को मुखरता के साथ अभिव्यक्त करता है। उनकी औपन्यासिक कृतियों के अध्ययन करते समय पाठक स्वयं उस परिवेश में खो सा जाता है। लेखिका ने हिन्दू–मुसलमान दोनों समाज के वास्तविक स्वरूप, सोच व मन्तव्य को स्पष्ट रूप से चित्रित किया है तथा पाठक को यह सोचने पर मजबूर कर दिया है कि आप और हम जो सुनते हैं, समझते है या मानते हैं, सच उससे अलग भी हो सकता है। समाज में शांति, सदाचार, समानता तथा मानवता की रक्षा के लिए हमें सदा तत्पर रहना चाहिए। नर की सेवा ही नारायण की सेवा है। जरुरतमन्दों, गरीबों, दीन–दुःखियों, अनाथों व असहायों की सेवा ही ईश्वर या अल्लाह की सच्ची सेवा है, पूजा है। सुधी पाठकों को यह समझाने के लिए अपने उपन्यासों में अक्षयवट के ज़हीर कईयाँजान के कमाल काग़ज़ की नाव के रमज़ान और दूसरी जन्नत की रुखसाना सरीखे़ पात्र लेखिका ने रचे हैं। ज़हीर 'मुस्कान' संस्था के द्वारा अनाथ बच्चों की सेवा, पालन–पोषण, शिक्षा आदि की व्यवस्था कर, कुईयाँजान के कमाल कच्ची बस्तियों में जा–जाकर जरुरत मन्दों को निःशुल्क दवाई, खाने की वस्तुऐं, कपड़े आदि की व्यवस्था कर तथा रमज़ान असहायों की सहायता कर मानवता की रक्षा करने का संदेश देते हैं। नासिरा जी हमेशा से स्त्री–पुरुष समानता की बात करती आई हैं और यही सोच उनके उपन्यास–लेखन में हमें देखने को मिलती है। वे एक समाज की परिकल्पना करती हुई 'शाल्मली' की शाल्मली से कहलवाती है कि– "मेरे मन–मस्तिष्क में एक ऐसे समाज की कल्पना है, जहाँ कोई किसी का दास नहीं है, फिर एक बार मैं बता दूँ कि मैं पुरुष विरोधी न होकर अत्याचार विरोधी हूँ। अत्याचारी का कोई नाम और धर्म न हो होता, तो भी समूह या इकाई में वह हमारे सामने होता है और उसी अत्याचारी से हमें जूझना है।

मूल शब्द: आत्मबोध, मध्यवर्ग, स्त्री–पुरुष समानता, रिश्तों की दूरी, कफ़्फ़ारा, जनजागृति, काग़ज़ की नाव, औपन्यासिक, संवेदनशील, परिकल्पना।

प्रस्तावना

व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग होता है। अतः कोई भी लेखक, साहित्यकार, कथाकार अथवा कवि प्रथमतः व्यक्ति होने के नाते समाज का ही एक अंग होता है। समाज की एक इकाई या घटक के रूप में लेखक दिन–रात जो कुछ भी जीता है, अनुभूत करता है, वह सब उस संवेदनशील हृदय–गह्वर में प्रवेश कर साहित्य के रूप में प्रस्फुटित हो उठता है। युग परिवर्तन के साथ सामाजिक परिवर्तन का वह साक्षी होता है। इसी बदलाव का सच हमें समकालीन साहित्य में देखने को मिलता है। नासिरा शर्मा जी का साहित्य भी समकालीन समाज तथा उसके अन्तर्मन को मुखरता के साथ अभिव्यक्त करता है। उनकी औपन्यासिक कृतियों के अध्ययन करते समय पाठक स्वयं उस परिवेश में खो सा जाता है। लेखिका ने हिन्दू–मुसलमान दोनों समाज के वास्तविक स्वरूप, सोच व मन्तव्य को स्पष्ट रूप से चित्रित किया है तथा पाठक को यह सोचने पर मजबूर कर दिया है कि आप और हम जो सुनते हैं, समझते है या मानते हैं, सच उससे अलग भी हो सकता है।

आज के दौर में नई पीढ़ी ज्यादातर भटकाव का शिकार है। पश्चिम के प्रभाव से वह अपने मूल संस्काारों से दूर होती जा रही है। उसके आचार–विचार, पहनावा, खान–पान, उठने–बैठने का ढंग दिखावे की प्रवृत्ति का शिकार हो चली है। नववर्ष के आयोजन को ले या किसी और आयोजन व त्योहार को, सभी के मानने के तरीके व मायने बदल गये हैं। आज की पीढ़ी पूर्णतः उन्मुक्त व स्वच्छन्द विचरण कर रही है। उसमें आत्मबोध की न्यूनता दृष्टिगोचर हो रही है। इसी की ओर संकेत करती हुई नासिरा जी अपने उपन्यास 'अक्षयवट' में आंग्ल नववर्ष के समय उपस्थित एक दृश्य का जहीर की नजर से वर्णन करती हुई लिखती है कि "इन सारी रंगीनियों को देखने जहीर और मित्र मण्डली भी पहुँची हुई थी। वे सब जवान थे, मगर इन नवजवानों को देखकर, जो पन्द्रह से बीस तक की उम्र के थे वे अपने को बुजुर्ग महसूस कर रहे थे। इस बीच समय किस तेजी से बदला है, इसका अन्दाजा उन्हें आज हो रहा था कि हर लड़की–लड़के का कोई न कोई ब्वॉयफ्रेण्ड और गर्लफ्रेण्ड था, जिसके साथ वह नये आने वाले वर्ष का सपना देख रहे थे। इनमें से जाने कितने जोड़े विवाह मण्डप तक पहुँचे और कितनों कि मित्रता साल के मध्य तक जाते–जाते टूट गयी। सम्बन्धों का इतनी जल्दी खिलना और उतनी ही शीघ्रता से कुम्हला जाना शायद ही आज का यथार्थ है?.....वहाँ आये सभी लड़के–लड़कियों ने अच्छे कपड़े पहन रखे थे। कुछ जवान लड़कियों ने ऐसी पोशाकें पहन रखी थीं जिसको देखकर यह गुमान हो रहा था कि यह दिसम्बर माह की सर्द रात नहीं बल्कि जून माह की गर्म दोपहर है.....।" [1]

साथ ही लेखिका ने यह भी है कि इस भटकाव की शिकार नई पीढ़ी को यदि माँ–बाप चाहें तो सही और गलत के मायने समझाकर, अच्छे संस्कार देकर पुनः रास्ते पर ला सकते हैं। पर इसके लिए बड़े–बुजुर्गों को चाहिए कि वे अपनी औलादों के सामने आदर्श बनकर खड़े हों। जैसे 'काग़ज़ की नाव' उपन्यास में महजबीं अपनी बेटी महलक़ा को समझाती हुई कहती है– "मैंने तुम्हें कई बातों में ग़लत मशविरे दिए, वह मेरी ममता की खुदगर्ज़ी थी। अब मेरी आँखें खुल चुकी हैं। जैसे मैंने अपनी ग़लती मान ली है, अब तुम भी मान लो और तौबा करो। तौबा का दरवाजा हमेशा खुला रहता है। उस नेक बंदे को जो तुम्हारे शौहर का बाप है उसकी ख़िदमत कर अपना कफ़्फ़ारा अदा करो

वरना मैं तुम्हें दूध बख़्शने वाली नहीं हूँ, यह मेरा आख़िरी फ़ैसला है।" [2]

आज सामाजिक ताना–बाना टूटता जा रहा है। इसक एक कारण बाजारवाद व भौतिकवाद है। सारे–रिश्ते–नाते स्वार्थपरक होते जा रहे हैं। परिवार में जो कमाता है उसके साथ सारे लोग चिपके रहते हैं। इस प्रकार के अर्थ–प्रधान समाज का चेहरा हमारे सामने रखते हुए नासिरा जी लिखती हैं कि "इस शहर को बाज़ार ने बिगाड़ा है और बाज़ार आया कहाँ से ? बात सिर्फ़ पैसे की है। हमारा इलाका पैसे का लालची हो चुका है। बाहर का आया पैसा जो मर्दों के खून–पसीने की कमाई है, उनकी कुर्बानी और तन्हाई का निचोड़ है। वह अपनी जगह से चलकर हमारे बैंकों में जब पहुँचता है तो कभी दुगना तो कभी चौगुना हो जाता है। उस मेहनतकश इनसान के कुनबे वाले उससे सिर्फ़ पेट नहीं भरते हैं बल्कि अय्याशी में लग गए हैं। गुलछर्रे उड़ाते हैं। इस पैसे ने हमारे रिश्तों में दरारें डाल दी हैं। माँ हो या बाप, भाई हो या बहन, सास हो या ससुर, नंद हो या फूफी, सब सोने के अंडे देने वाली मुर्गी को अपना बनाकर रखना चाहते हैं, कोई लुतेरेपन से तो कोई भुस में चिंगी डालकर तो कोई शैतानी अमल करवाकर। और मारा जाता है वह इनसान जो रात–दिन मेहनत करता है अपने खानदान के लिए ताकि सारे लोग घर के पढ़ सकें, साफ़–सुथरे घर में रह सकें। माँ का इलाज हो सकें, बाप की आँख खुल सके, बहन की डोली उठ सके और रहन पड़ी ज़मीन छूट सके..... ।" [3]

लेखिका ने मलकानूर के चरित्र के माध्यम से पाठकों को यह भी समझाया है कि समाज में पीढ़ीगत अन्तराल व सोच में परस्पर तालमेल बिठाना अत्यावश्यक है। नौजवान पीढ़ी नई सोच व ज़ज्बात लिए आगे बढ़ रही है और बुजुर्ग लोग पुरानी रीतियों व मर्यादाओं का हवाला देते हुए उन्हें बाँधना चाहते हैं। यहाँ चाहिए कि दोनों को एक–दूसरे के ज़ज्बातों, समय की जरुरतों व मर्यादाओं को ध्यान में रखकर आगे बढ़ना होगा। नहीं तो मलकानूर की तरह परिवार नष्ट होते चले जायेंगे और हम एक–दूसरे को, समकालीन परिस्थितियों को दोष देते हर जायेंगे। पीढ़ीगत सोच को उजागर करती हुई लेखिका मलकानूर से कहलवाती है कि "हम नौ कक्षा पास हैं, अंग्रेजी मीडियम स्कूल में पढ़े और शादी यहां कर दी जहां कोई कुछ नहीं समझता।....छत की सीढ़ी वाले दरवाज़े में ताला डाल दिया। बाहर निकल ही नहीं पाती थी। छत पर भी जाना बंद हो गया। घर फ़ोन पर मां से बताया तो वह सास से बात करने के उलटे हमें समझाने लगीं। मायके जाने को कहा तो इनकार। इनका फ़ोन आया तो बोले, हमारे मां–बाप की बात मानो। हमारा दुःख सुनने का किसी के पास टाइम न था। बच्चे को हमसे दूर रखती थीं। इस सबके बाद हम उस घर में रहकर क्या करते ? शादी से पहले तय हुआ था हम आगे पढ़ाई जारी रखेंगे मगर अब कहते हैं हमें कुछ भी याद नहीं।.....देखा, कैसा घुटा–घुटा घर है? कमरे की खिड़की जो गली की तरफ खुलती थी उसे चुनवा दिया। गर्मी और हब्स से बच्चा सारी रात रोता था तो भी हमें बातें सुनातीं–बच्चा पालना नहीं जानती, मायके वालों ने वायदा किया था कि मोटर साईकिल के साथ नक़द लाख रूपया देंगे मगर अस्सी हज़ार देकर कुड़क मुर्गी हो गए।" [4]

समाज में भ्रष्टाचार इस कदर बढ़ गया है कि मानो वह मानव–जीवन का हिस्सा हो। किसी भी महकमें की गिरेबां में छाँक कर देखो, सबका हाल–बेहाल है। बिना जान–पहचान और मुट्ठी गर्म किये किसी भी कार्य का करवाना बहुत कठिन है। इसमें पुलिस महकमा तो बेहद बदनाम है। 'सात नदियाँ एक समंदर', 'अजनबी ज़ज़ीरा', 'ज़ीरो रोड़', 'अक्षयवट', इन सभी उपन्यासों में बड़ी मुखरता के साथ इस यथार्थ को लेखिका ने उजागर किया है। देश की सीमा पार कराना हो, बीजा बनवाना हो, नौकरी दिलवानी हो या कोई भी काम निकलवाना हो तो वैसे सबसे महत्त्वपूर्ण साधन दर्शाया गया है। सिपाही रामस्वरूप अपने पट्टीदारी के विवाद से तंग आकर अपने साथी बलवीर से कहता है– "पुलिस की जात तो तुम जानत हो, दरोगा हरपाल सिंह बड़ा हरामी है। खाये–पिये के आगे ओका कुछ औस सूझत नाही है। ठाकुर का लौण्डा बोतल–वोतल देय–दिलाय के और मुट्ठी गर्म कर सच्चाई दबाय दीस,.....पुलिस के मोहकमा में आये के, जानो आँख खुल गयी। सब समझ के भी हाथ कटवाये का पड़त है। अब का बोलें?" [5]

आज गाँवों से शहरों की ओर पलायन होने के कारण समाज अनेक प्रकार की समस्याओं का शिकार होता जा रहा है। युवकों के काम–धन्धे की तलाश में शहर व परदेश में लम्बे समय के लिए चले जाने के कारण पीछे रह जाते हैं असहाय व बूढ़े मां–बाप, अबोध व अजन्मे बच्चे, और अनेक बंदिशों व विरह वेदना से पीड़ित पत्नी। इस कारण परस्पर विश्वास, प्रेम, त्याग, सेवा, मेलजोल इत्यादि शुष्क होते चले जाते हैं। काग़ज की 'नाव' जहूर मियाँ व मलकानूर हो, चाहे 'जीरो रोड' का सिद्धार्थ सभी इस समस्या से त्रस्त है। लगभग यही रिश्तों की दूरी का जीते–जागते उदाहरण है, शाल्मती की शाल्मती, ठीकरे की मंगनी की महरूख़ और पारिजात का रोहन।

पर अनेक समस्याओं के बावजूद भी लेखिका ने पाठकों को समझाया है कि 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्ताँ हमारा'। निज़ाम बँटवारे के बाद पाकिस्तान चला गया और अपनी मेहनत के बाद बड़ा अमीर आदमी बनता है घर परिवार बसाता है और मौज से रहता है पर जब वह लम्बे अरसे बाद अपने मूल वतन भारत लौटता है और अपने भतीजे की जीवन–शैली को देखता है, तो वह कुंडत सा हो जाता है और पछताते हुए कहता है "पछतावा.... .बहुत पछतावा हो रहा है, बेटे! तुम से क्या छिपाना। कुछ मज़ा नहीं आया ज़िन्दगी में सब कुछ पाकर भी। क्या खोया, यह आज समझ में आया। आज तक हिन्दू–मुसलमान फसाद की खबरें तो पाकिस्तान में पहुँचती रही थीं, मगर यह इत्तला वहाँ नहीं पहुँची थी कि एक मुसलमान अफसर के नीचे हजारों मातहत हिन्दू भी हो सकते हैं और.....दंगे–फसाद से मारे जाने के बाद भी इस मुल्क में उनकी खुशहाली पिछले चालीस वर्षों में पनप उठी है, जो बहुत कुछ न कहकर थी बहुत कुछ बताती है कि असलियत वह नहीं, जो बताई है, बल्कि सच्चाई वह है, जो नज़र आ रही है।" [6]

समाज में शांति, सदाचार, समानता तथा मानवता की रक्षा के लिए हमें सदा तत्पर रहना चाहिए। नर की सेवा ही नारायण की सेवा है। जरुरतमन्दों, गरीबों, दीन–दुःखियों, अनाथों व असहायों की सेवा ही ईश्वर या अल्लाह की सच्ची सेवा है, पूजा है। सुधी पाठकों को यह समझाने के लिए अपने उपन्यासों में अक्षयवट के ज़हीर कईयाँजान के कमाल काग़ज़ की नाव के रमज़ान और दूसरी जन्नत की रुखसाना सरीख़े पात्र लेखिका ने रचे हैं। ज़हीर 'मुस्कान' संस्था के द्वारा अनाथ बच्चों की सेवा, पालन–पोषण, शिक्षा आदि की व्यवस्था कर, कुईयाँजान के कमाल कच्ची बस्तियों में जा–जाकर जरुरत मन्दों को निःशुल्क दवाई, खाने की वस्तुऐं, कपड़े आदि की व्यवस्था कर तथा रमज़ान असहायों की सहायता कर मानवता की रक्षा करने का संदेश देते हैं।

वहीं रुख़साना अपने चिकित्सकीय पेशे के द्वारा सन्तानहीन माँ–बाप के जीवन में खुशियाँ लाने का प्रयास करती है। लेखिका ने फ़रहाना और गुलज़ार की कहानी के द्वारा समाज के सामने अनेक प्रश्न उपस्थित कर सोचने को विवश किया है। मुस्लिम समाज में व्याप्त बुराईयों, स्त्री–पुरुष असमानता, इनसानी जिंदगी, धर्म और ज़रुरत के मध्य तालमेल बैठाना इन सब विषयों पर बहस करना आज समय की जरुरत है यह बताया है। अतः लेखिका लिखती हैं कि "लंबी बहस के बाद यह तय पाया कि हमको कमेटी बना आलिमों व मौलवियों से मिलकर इस बाबत

दरख़्वास्त करनी चाहिए कि जब धर्म का दखल हम, इन्सानी जीवन में रोक नहीं सकते हैं और मेडिकल साइंस के बढ़ते कदम को भी नकार नहीं सकते हैं। ऐसी हालत में वह इस समस्या को औरत को नज़र में रखते हुए एक नया रास्ता निकालें ताकि औरतें सताई न जाएं।" [7]

स्वातंत्र्योत्तर काल में समाज में जमीदार पद्धति का उन्मूलन हुआ और उसके स्थान पर पूँजीपति व्यवस्था पनप गई। शोषक का सिर्फ नाम बदला है। पूँजीपति, महाजन या साहूकार के शोषण से त्रस्त गाँवों में रहने वाला मजदूर, किसान व आम आदमी अपनी थोड़ी सी जमीन को भी अपने अधिकार में रखने में असमर्थ है। ठीकरे की मंगनी उपन्यास में इस शोषण की समस्या को उठाया गया है। महरूख जिस ग्रामीण इलाके में अध्यापन कराती है वहाँ पर कृषकों, निम्न वर्गों व मजदूरों का शोषण होता हुआ दिखलाया है। महरूख गणपत काका और उसके परिवार को शोषण से मुक्त होने का मार्ग दिखलाती है तब जो संवाद होता है वह शोषण के स्वरूप को उजागर करने में काफी है। कामता कहती है ""देखो बड़की दीदी, अब गलत बात नाहीं सहनी....ठीक है, इस गांव का हर फैसला पक्के मकान वाले और पत्थर वाले लाल के घर तय होता है। मगर इसका यह मतलब नहीं है कि हम सब लोगन हथियार डाल के बैठ जाये। हमारी बात भला वह क्यों समझिए! वह तो हमें का करनी पड़ि हे, अब कौनो चारा नाही है। एके सिवाय हम खुदम अपनी लड़ाई लड़ैं।" [8] तब गणपत काका कहते हैं कि "अत्याचारों का कौनो धर्म नाहीं होत बेटवा–ई राक्षस तो हम लोगन का निगले के वास्ते सदा रहि हैं।" [9]

समान में धीरे–धीरे जन–जागृति व शिक्षा के प्रसार के परिणामस्वरूप जातिगत बंधन कुछ ढीले अवश्य हुए हैं। आपसी भेदभाव व छुआछूत कुछ कम हुआ है परन्तु अभी भी यह कलंक भारतीय समाज के माथे पर लगा हुआ है। कुछ राजकीय मजबूरीवश कहें या कुछ अन्तर्मन से इस कुरीति से स्वयं को मुक्त अवश्य मानते हैं परन्तु आज भी निम्न जातियों, गरीबों के साथ वही भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जा रहा है। विशेषकर गाँवों में आज भी पिछड़ी जातियों के लोगों के साथ जानवरों से भी बदतर व्यवहार किया जाता है। कुछ कथित ऊँची जाति के लोग भले ही राजकीय पदों पर प्रतिष्ठापित हो गये है और दिखावे के लिए समानता का व्यवहार करते हैं परन्तु उनके मन का कीडा अभी मरा नहीं है। ऐसे लोगों की नजरों में निम्न जाति के लोग हेय हैं, उनके लिए कोई सम्मान नहीं है। आज भी गाँवों में आये दिन निम्न वर्गों की बहू–बेटियों, औरतों के साथ कदाचार हो रहे हैं, परन्तु कुछ ही मामले उजागर हो पाते हैं, अधिकांश मामले तो दबंगों द्वारा वहीं दबा दिये जाते हैं। 'ठीकरे की मंगनी' उपन्यास में जब हरिजन लड़की बिन्दो को अंधेरे में काशी अपने कमरे में घसीट ले गया था उसका वृत्तान्त इस प्रकार है– "घर लौटती बिन्दो को अंधेरे में काशी अपने कमरे में घसीट ले गया था। इसमें कौन–सी नई बात थी ? हरिजनों पर यह जुल्म तो ढाया ही जाता रहा है। रो–धोकर, ग़म–गुस्से को पीकर सब कुछ सह लिया जाता है, मगर नई बात जो हुई थी, वह यह थी कि बिन्दो के भाई ने काशी की आतें बाहर निकाल ली थीं और बिन्दो कुएं में समा गई थी।"[10] इस घटना के सम्बन्ध में जो सरकारी महकमे के सिपाही आपस में वार्तालाप करते हैं, वह बेहद शर्मनाक और वर्तमान समाज की हकीकत को बयां करता है। साथ ही संकेत करता है कि सरकारी स्तर पर भी इनके साथ कितना न्याय होता है? इसका विस्तृत विवरण दलित चेतना के अन्तर्गत दिया गया है।

समाज में धीरे–धीरे पेशेवर कारीगर, मजदूर, मिस्त्री, कलाकार अपने–अपने पुश्तैनी काम–धन्धों को छोड़कर रोजी रोटी की तलाश करते हुए दूसरे काम–धन्धे करने लगे हैं। जिसके कारण किसी कार्य को करने वाले पेशेवर दक्ष कामगारों का अभाव होता जा रहा है। 'काग़ज़ की नाव' उपन्यास में जब अमज़द अपनी बेटी महलका के मकान की मरम्मत करवाने की तलाश करते हैं और इसके लिए अपने दफ़्तर में पूर्व कार्यरत व सेवा निवृत सहायक कर्मचारी भोलानाथ जो आजकल ठेकेदारी करने लगा था, को फोन कर बुलाते हैं, तब वह कहता है कि "क्या बताएं सर जी, बड़ा बुरा हाल है। कारीगर अब कारीगर नहीं रहा, सब नौसिखिए हैं। न हाथ साफ़ है और न मन, बस दिहाड़ी चाहिए। जो पुराने एक–दो हैं वे बीमार होकर बाहर से लौटे हैं और मेरी तरह ठेकेदारी कर रहे हैं।" [11]

यही हाल 'कुईयाँजान' के कमाल को अपने मूल गाँव मुस्तफाबाद जाने पर पता चलता है। हातिम उसे मोहल्ले–दर–मोहल्ले घूमता हुआ गाँव की स्थिति को बयां करता हुआ कहता है कि "जो सबसे अजीब बात उसे लगी, वह यह थी कि कोई भी हुनरमन्द अपने आबाई पेशे से नहीं जुड़ा था। तालाब में सिंघाड़ा बोने वाले तालाबों के पट जाने और नल लग जाने के कारण, अब घर–घर पहुँचाने की जगह रेडीमेड कपड़ों की रेड़ी लगाने लगे थे। कहार और कुम्हार कटाई–बोआई में लग गए थे। दर्जियों की हालात थोड़ी बेहतर थी। मगर उनके लड़कों का रुझान पीसीओ और केबिल की दुकान खोलने की तरफ लगा था। मिस्त्री और प्लंबर मध्यपूर्वी देशों में काम ढूँढ रहे थे। सारा निजाम तितर–बितर नजर आ रहा था। समस्या पेट की थी, खानदानी हुनर की नहीं। जहाँ जिसको कमाई नजर आती, वह वहीं रहने लगता।" [12]

लेखिका अपनी औपन्यासिक रचनाओं के कथानकों के माध्यम से पाठकों को समझाती हैं कि औद्योगिक विकास के साथ–साथ समाज में मध्यवर्ग का तीव्र गति के साथ उदय और विकास हुआ है। इसमें क्लर्क, वकील, डॉक्टर, शिक्षक आदि आते हैं। इस वर्ग के लोगों में पर्याप्त भिन्नता होती है। इस वर्ग की यह मजबूरी होती है कि ये अपने को बढ़ा चढ़कर प्रदर्शित करने की कोशिश करते हैं। बच्चन सिंह जी भी इस सम्बन्ध में लिखते है कि "मध्यवर्ग की एक बहुत बड़ी कमजोरी है–अपनी स्थिति से बढ़कर अपने को प्रदर्शित बड़ी कमजोरी है– अपनी स्थिति से बढ़कर अपने को प्रदर्शित करने की स्पृहा।" [13] 'जीरो रोड' उपन्यास में जब रामप्रसाद के घर दुबई से सिद्धार्थ के मित्र विश्वप्रसद्धि फोटोग्राफर रमेश शुक्ला और फिल्म निर्माता ईयाद आने वाले थे। तब "रामप्रसाद जी का घर दीपावली से पहले पुता था, अब फिर उसकी सफाई सुथराई बड़ी तेजी से चल रही थी। घर का जो कोना ज़रा भी उपेक्षित पड़ा दिखाई दिया उसे रगड़कर चमका दिया गया। फूलों के गमले भी कंपनी बाग से लाकर बरामदे में रख दिये गये। चाय और डिनर सेट के साथ फूलदार चादरें और प्लास्टिक मेज पोश भी राधारानी बाजार जाकर खरीद लायी थीं... ।" [14]

इसी मध्यवर्ग की जीवन–शैली का एक पक्ष यह भी लेखिका ने उद्घाटित किया है कि नौकरी की तलाश तथा ऊँचा उठने की स्पृहा ने मध्यवर्ग के परिवारों को अपनी जड़ों से दूर शहरों में ले जाकर अलग–थलग सा कर दिया है। जब तक सब कुछ अनुकूल होता है तब तक वह अपने को धन्य समझता है परन्तु जब भी विपरीत समय होता है या दुःख–दर्द आता है तब वह सहारे की तलाश में अपनों को याद–करता छटपटाता है। क्योंकि अजनबी शहर में वह अपने नाते–रिश्तेदारों, परिवार वालों से दूर होता है। ऐसी ही स्थिति 'शब्द पखेरू' उपन्यास में देखने को मिलती है। सूर्यकान्त की पत्नी 'साधना' के बीमार होने पर घर की नींव हिलने लगती है। एक तरफ दोनों बेटियों की पढ़ाई और उनके सपने, दूसरी तरफ पत्नी की देखभाल और नौकरी में से किसी एक का चुनाव क्योंकि उसका स्थानान्तरण दूसरे शहर में हो जाता है। साधना की सुध–बुध लेने तथा उसके मन को समझने के लिए किसी के पास समय नहीं होता है। पर धीरे–धीरे "सिर्फ़ साधना को ही नहीं बल्कि पूरे परिवार को यह बात समझ में आ गयी थी कि रोगी का रोग केवल शारीरिक नहीं होता

बल्कि संवेदनाएँ भी शरीर को क्षतिग्रस्त बना देती है। जिसकी तरफ़ किसी का ध्यान नहीं जाता है कि उसे हौंसले की, बढ़ावे की, प्यार की सख़्त ज़रुरत होती है। साधना ने रिश्तेदारों ने ऐसी पटक–झटक दिखाई थी। नौकरों ने उसकी ऐसी गत बनाई थी कि वह रोग की जगह जीवन–मुक्ति की कामना हर समय करती थी.....सूर्यकान्त भी कर्तव्य को निभाने के चक्कर में उससे दूर होते चले गये। उसे एक मुर्दा औरत समझ बैठे जिसे डॉक्टर, दवा को ज़रुरत थी प्यार और स्पर्श की ज़रुरत बाकी नहीं रह गयी थी। बेटियाँ भी तब दूर–दूर से देखती और कमरे से भाग जाती थीं। कितनी व्यथा, कितनी वेदना, कितनी पीड़ा सही है उसने। आखिर वह इस तरह जीकर करती भी क्या? लेटे–लेटे वह ननद की बातें सुनती– "भैया अब दूसरी शादी का सोचो हम भी कब तक अपनी गृहस्थी को छोड़–छोड़कर आते रहेंगे?" [15]

नासिरा जी हमेशा से स्त्री–पुरुष समानता की बात करती आई हैं और यही सोच उनके उपन्यास–लेखन में हमें देखने को मिलती है। वे एक समाज की परिकल्पना करती हुई 'शाल्मली' की शाल्मली से कहलवाती है कि– "मेरे मन–मस्तिष्क में एक ऐसे समाज की कल्पना है, जहाँ कोई किसी का दास नहीं है, फिर एक बार मैं बता दूँ कि मैं पुरुष विरोधी न होकर अत्याचार विरोधी हूँ। अत्याचारी का कोई नाम और धर्म न हो होता, तो भी समूह या इकाई में वह हमारे सामने होता है और उसी अत्याचारी से हमें जूझना है।" [16]

इस प्रकार नासिरा जी ने अपनी औपन्यासिक कृतियों के विभिन्न कथानकों, चरित्रों व पात्रों के माध्यम से समकालीन समाज के यथार्थ को उजागर किया है। समाज के विविध स्वरूपों व विविध पक्षों पर प्रकाश डालकर पाठकों को सोचने पर विवश किया है कि उन्हें समाज में किन–किन पक्षों पर सुधार करने की जरुरत है? और किन–किन बातों को साथ लेकर चलना है? बदलते परिवेश व युगीन परिस्थितियों के अनुरूप उन्हें बदलना है। संक्षेप में कहें तो एक स्वस्थ समाज की परिकल्पना लेखिका ने प्रस्तुत की है।

संदर्भ सूचि

1. नासिरा शर्मा, अक्षयवट, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण : 2003 पृ.सं.–28–29
2. नासिरा शर्मा, काग़ज़ की नाव, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2018, पृ.सं.–49
3. वही, पृ.सं.–66
4. वही, पृ.सं.–79
5. अक्षयवट, पृ.सं.–102–103
6. नासिरा शर्मा, ज़िन्दा मुहावरे, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2010, पृ.सं.–126–127
7. नासिरा शर्मा, दूसरी जन्नत, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, 2017, पृ.सं.–90
8. नासिरा शर्मा, ठीकरे की मंगनी, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2010, पृ.सं.–169–170
9. वही, पृ.सं.–170
10. वही, पृ.सं.–101
11. काग़ज़ की नाव, पृ.सं.–88–89
12. नासिरा शर्मा, कुइयाँजान, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ.सं.–413
13. बच्चन सिंह, उपन्यास का काव्यशास्त्र, बच्चन सिंह, पृ.सं.–57
14. नासिरा शर्मा, ज़ीरो रोड, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2008, पृ.सं.–69
15. नासिरा शर्मा, शब्द पखेरू, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2017, पृ.सं.–54–55
16. नासिरा शर्मा, शाल्मली, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2010, पृ.सं.–165